शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील 卐

अप्रैल : १९६१ ☆ वर्ष सोलहवाँ, चैत्र, वीर नि०सं० २४८७ ☆ अंक : १२

'सब कुछ भूल जा!'

जैसे किसी को महारोग हुआ हो और उसका ऑपरेशन करना हो तो डॉक्टर उसे क्लोरोफार्म सुँघाकर सब भुला देता है और उसके रोग का ऑपरेशन कर देता है... उसी प्रकार आत्मा को लगे हुए मोहरूपी महारोग का ऑपरेशन करने के लिये श्रीगुरु कहते हैं कि हे जीव! एक बार चैतन्य की सुगन्ध (-रुचि) लेकर सारे जगत को भूल जा... जगत का लक्ष छोड़.... आत्मा का लक्ष कर... जगत को भूलकर चैतन्य की रुचि करते ही तेरे मोहरूपी रोग का ऑपरेशन हो जायगा.... और तुझे वीतरागी सुख का अनुभव होगा।

(—प्रवचन से)

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१९२]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत

श्री नियमसारजी

(सेठी दि० जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित)

महान आध्यात्मिक भगवत शास्त्र, संस्कृत टीका सहित, जिसकी तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा काफी जोरों से माँग है, पूर्ण रूप से संशोधित, यह ग्रन्थ महान पवित्र तत्त्वज्ञान की अपूर्व निधि समान है। पृष्ठ संख्या ४१५ बड़े साइज में, कपड़े की सुन्दर मजबूत जिल्द मूल्य ५.००) मात्र, पोस्टेज अलग। थोक लेने पर कमीशन २५) सैं० देंगे। जिज्ञासुगण शीघ्र आर्डर भेजें।

मिलने का पता —

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

पो० सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आत्मधर्म के ग्राहकों को नम्र सूचना

चैत्र मास में बारहमास का चन्दा समाप्त होता है। महँगाई के कारण ४ ॥) में लागत पड़ने पर भी घाटा उठाकर ३)(तीन रुपया) सालाना ही चन्दा रखा गया है। अतः मनीआर्डर द्वारा ३) रु० भेज देवें। वी०पी० करने में तेरह आने (८१, पैसा) व्यर्थ ही लग जाते हैं।

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

★

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील 卐

अप्रैल : १९६१ ☆ वर्ष सोलहवाँ, चैत्र, वीर नि०सं० २४८७ ☆ अंक : १२

भेदज्ञान ही शांति का उपाय है

[राजकोट शहर में पूज्य गुरुदेव के अध्यात्मरस भरपूर प्रवचनों का संक्षिप्त सार]

आत्मा कर्ता होकर क्या करेगा—उसकी यह बात है।

प्रथम, यदि परद्रव्य में व्याप्त होकर आत्मा उसे करे तो वह परद्रव्य के साथ एकमेक हो जायेगा... और जड़ से भिन्न उसका अस्तित्व ही नहीं रहेगा। किन्तु ऐसा तो कभी नहीं होता; पर से त्रिकाल भिन्न रहनेवाला आत्मा, परद्रव्य में कुछ नहीं करता।

अब, कोई ऐसा कहे कि आत्मा, परद्रव्य में तन्मय होकर भले ही उसका कर्ता न हो, किन्तु पृथक् रहकर निमित्तरूप से तो कर्मादि परद्रव्य का कर्ता होता है न?—निमित्तरूप से कर्ता होने का तो स्वभाव है न?—तो उसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि—

हे भाई! तुझे सम्यक्त्वी के स्वभाव की प्रतीति नहीं है। सम्यक्त्वी की दृष्टि कहाँ है, उसकी खबर नहीं है। सम्यक्त्वी की दृष्टि आत्मा के चिदानन्दस्वभाव पर है और उसे स्वभावोन्मुखता के कारण निर्मल पर्यायें होती जाती हैं तथा कर्म के साथ सम्बन्ध टूटता जाता है। इसलिये ऐसी दृष्टि से देखने पर आत्मा, विकार का भी कर्ता नहीं है... और जब विकार का कर्ता नहीं है, तब कर्मादि का निमित्तकर्ता भी कहाँ से होगा?

ऐसा चिदानन्दस्वभाव जिसकी दृष्टि में नहीं आया, वही अज्ञान भाव से विकार का कर्ता होता है... और जो विकार का कर्ता होता है, वही अपने आत्मा को परद्रव्य का निमित्तकर्ता मानता है।

किसी भी परद्रव्य के कार्य में अपना आत्मा निमित्तकर्ता होता है—ऐसी जिसकी दृष्टि है, उसकी दृष्टि में सदैव परद्रव्य का निमित्तकर्ता होने का जोर है... इसलिये तीव्र से तीव्र कर्मबंध का भी मैं निमित्तकर्ता हूँ—ऐसा जोर उसके विपरीत अभिप्राय में भरा है; इसलिये उसके परिणाम की कोई मर्यादा ही नहीं रहेगी; क्योंकि कर्म का निमित्तकर्ता वही होता है कि जो विकार का कर्ता हो... और विकार का कर्ता वही होता है, जो स्वभाव के निर्मलपर्याय को न करता हो।

स्वभावोन्मुख होकर सम्यग्दर्शनादि निर्मलकार्यों को करनेवाला धर्मात्मा अपने को विकार का भी निमित्तकर्ता नहीं मानता; वह तो विकार को अपने ज्ञान का निमित्त बनाता है, क्योंकि ज्ञान को विकार से भिन्न का भिन्न रखता हुआ वह विकार को ज्ञान का कार्य नहीं, किन्तु ज्ञान का ज्ञेय ही बनाता है; इसलिये धर्मी का ज्ञान, विकार को निमित्त नहीं किन्तु विकार, धर्मी के ज्ञान में ज्ञेयरूप से निमित्त है। देखो, दृष्टि पलटने पर कैसा पलटा हो जाता है।

अहा, धर्मी का आत्मा जब विकार को भी निमित्तरूप से नहीं करता, तो फिर जड़कर्म का निमित्तकर्ता वह कैसे हो सकता है ?—और परद्रव्य के कर्तृत्व की तो बात ही कहाँ रही ?—ऐसा भान और ऐसी दृष्टि जब तक न हो, तब तक धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

अज्ञानी आत्मा भी पर का कर्ता नहीं हो सकता। अज्ञानभाव से भी मात्र अपने उपयोग को राग में युक्त करके उस अशुद्ध उपयोग का तथा योग का कर्ता होता है। यह विकार का कर्तृत्व अज्ञानदशा में ही है। ज्ञानदशा में ज्ञाता भगवान, विकार का कर्ता क्यों होगा ?—नहीं होगा। धर्मी की दृष्टि में ज्ञाता भगवान ही है, उसकी दृष्टि में रागादि नहीं है; इसलिये वह रागादि का अकर्ता ही है। इसप्रकार रागादि का अकर्ता होकर परिणमित होते-होते वह मुक्ति प्राप्त करता है। प्रथम आत्मा के ऐसे स्वभाव की दृष्टि में लेना, वह मोक्ष का मार्ग है।

कुछ लोग कहते हैं कि हमारी समझ में कुछ नहीं आता। आचार्यदेव कहते हैं कि—भाई! यदि अंतर में इसे समझने की आवश्यकता का अनुभव हो तो अवश्य समझ में आ सकता है। दूसरा सब कुछ समझ में आता है तो यह क्यों नहीं आयेगा ? भाई, इसे समझे बिना संसार की चारों गतियों में तूने अपार दुःख सहे हैं। इस चैतन्यतत्त्व को समझे बिना तेरे भवभ्रमण का अंत नहीं आ सकता।

वर्तमान में अल्पज्ञता और विकार होने पर भी, धर्मात्मा की दृष्टि के ध्येय में निर्विकार ज्ञायकस्वभाव वर्तता है; इसलिये वह दृष्टि, विकार का कर्तृत्व स्वीकार नहीं करती। धर्मी तो ज्ञान में ही वर्तता हुआ ज्ञानभाव को ही करता है।

धर्मात्मा संतों ने अंतर में जिस साधन से आत्मशांति की साधना की, वही साधन वे बतला रहे हैं। भाई! धर्म का पंथ वही है। धर्म का पंथ आत्मस्वभाव का स्पर्श करके प्रारम्भ होता है, राग में से धर्म का पंथ नहीं निकलता। धर्मी को ज्ञान के काल में राग हो भले, किन्तु वे राग से पृथक् रहकर उसे जानते हैं; इसलिये राग के काल में भेदज्ञान का काल भी साथ ही वर्तता है। अज्ञानी, राग के समय राग में ही तन्मय होकर वर्तता है, राग से भिन्न ज्ञान की उसे खबर नहीं है, इसलिये वह राग की आकुलता का ही वेदन करता है, ज्ञान की शांति का वेदन उसे नहीं होता। जिसे सच्ची आत्मशांति का वेदन करना हो, उसे ज्ञान को अंतर्मुख करके आत्मा और राग का भेदज्ञान करना चाहिये—यही उपाय है।

अमर होने का उपाय

[अमरेली शहर में पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से]

* शरीर में रहनेवाला आत्मा जब संसार भ्रमण से थककर मोक्ष का उपाय करने के लिये तैयार होता है, तब वह कैसा भेदज्ञान करता है? उसकी यह बात है। सुखदायक ऐसा पवित्र आत्मस्वभाव और दु:खदायी मलिन रागादि भाव—इन दोनों को भिन्न न जानने से रागादि के ही अनुभव में वर्तता हुआ जीव, अज्ञानभाव से दु:खी है और वह संसारभ्रमण करता है। जिसे ऐसा अनुभव हुआ है कि अरे! इस राग के वेदन में मुझे शान्ति नहीं है, मेरी शान्ति का उपाय इस राग में नहीं हो सकता; इसलिये राग से पृथक् होकर मुझे अपनी शान्ति का उपाय ढूँढ़ना चाहिये।

* ऐसे जीव को आचार्यदेव शान्ति का उपाय बतलाते हैं कि—हे भाई! तेरा ज्ञानस्वभावी आत्मा पवित्र है, सुखरूप है, शरणरूप है, और रागादि तो मलिन हैं, दु:खरूप हैं, अशरण हैं।—इसप्रकार तू दोनों के भिन्न-भिन्न स्वभाव को जान। उनकी भिन्न-भिन्न प्रतीति होते ही तेरा ज्ञान, राग से पृथक् होकर स्वभाव में परिणमित हो जायेगा और तुझे अपने स्वभाव की शान्ति का वेदन होगा।

* जिनका आत्मा, शरीर और राग से अत्यन्त भिन्न परिणामरूप परिणमित हो रहा है, जिन्होंने मुक्ति और केवलज्ञान की साधना कर ली है—ऐसे सर्वज्ञपरमात्मा हैं, उन्होंने वह परमात्मदशा कहाँ से प्रगट की? आत्मा के स्वभाव में वह शक्ति थी, उसी में से वह प्रगट हुई है;

किसी संयोग में से प्रगट नहीं हुई है।

* अपने परमात्मस्वभाव में से बाहर निकला–च्युत हुआ–संसरित हुआ, वह संसार है; वह संसार कहीं बाह्य में नहीं है किन्तु जीव की पर्याय में ही संसार है। जीव की बहिर्मुख पर्याय, वह संसार है और अंतर्मुख पर्याय, वह मोक्षपर्याय है। इसप्रकार संसारमार्ग या मोक्षमार्ग जीव की पर्याय में ही हैं।

* यहाँ मुख्य बात यह है कि स्वभाव क्या और विभाव क्या—उसका भेदज्ञान करना चाहिये। विकारी वृत्तियों में एकत्वबुद्धि ही संसार का मूल है; क्योंकि जो विकार के साथ एकत्व मानता है, वह उससे पृथक् कैसे होगा? जबतक विकार से भिन्न शुद्ध ज्ञानस्वभाव को न जाने, तबतक सम्यग्दर्शन भी नहीं होता; फिर सम्यग्दर्शन के बिना मोक्षमार्ग तो कहाँ से होगा?

* संसार अर्थात् दोष; दोष कोई स्थायी वस्तु नहीं है किन्तु गुण स्थायी वस्तु है। गुण की क्षणिक विकृति, सो दोष है। गुण के विश्वास से गुण प्रगट होता है और दोष टलता है।

* गुण और दोष में विरोधी स्वभावपना है.... जिसने दोष में (विकार में, राग में) अपनी एकता मानी, उसने अपने गुणस्वभाव का विश्वास नहीं किया, इसलिये स्वभाव का अनादर करके दोष का आदर किया। वह जीव, दोष का नाश कैसे कर सकेगा?

* जिसने स्वभाव और विभाव का भेदज्ञान किया, गुण और दोष को भिन्न जाना, वह जीव स्वभावोन्मुख होता हुआ विभाव से विमुख होगा... यानी बंधन से विमुख होकर मोक्षमार्ग की ओर उन्मुख होगा।

* भेदज्ञान की अपूर्व कला कैसी होती है? तथा उसके प्रगट होने पर आत्मा में क्या होता है?—उसकी यह बात है। आत्मा और रागादि को भिन्न जाननेवाला ज्ञान, रागादि से पृथक् हो गया है और आत्मानन्द की ओर उन्मुख होकर उसका वेदन करने में तन्मय है। भेदज्ञानी की अंतरपरिणति ऐसी अलौकिक हो जाती है मानो सम्पूर्ण आत्मा ही बदल गया हो! भेदज्ञान होने पर आत्मा की दशा एकदम बदल जाती है।

* ऐसे भेदज्ञान के बिना जीव अनंत काल से संसार में भावमरण करके मर रहा है; वह भावमरण दूर होकर आत्मा के अमरपद की प्राप्ति कैसे हो—उसकी यह बात है। भेदज्ञान द्वारा ही भावमरण से छूटकर चैतन्य का अमरपद प्राप्त होता है... अमृतमय ऐसा मोक्षपद ही आत्मा का अमरपद है और उसकी प्राप्ति भेदज्ञान द्वारा ही होती है।

ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन की महिमा

(१) प्र०—आत्मा का निजपद कौन-सा है ?

उ०—ज्ञान, वह आत्मा का निजपद है।

(२) प्र०—हे गुरुदेव ! प्राप्त करने योग्य पद कौन-सा है ?

उ०—यह ज्ञानस्वरूप निजपद ही एक प्राप्त करने योग्य पद है, अन्य सर्व भाव अपद हैं.... अपद हैं।

(३) प्र०—ज्ञान वह निजपद क्यों है ?

उ०—क्योंकि ज्ञान ही आत्मा के तत्स्वभावरूप से अनुभव में आता है, इसलिये वही आत्मा का निजपद है।

(४) प्र०—रागादि भाव अपद क्यों हैं ?

उ०—क्योंकि रागादि भावों का आत्मा के स्वभावरूप से अनुभव नहीं होता किन्तु आत्मस्वभाव से अतत्रूप (-भिन्नरूप) अनुभव होता है; इसलिये आत्मा के लिये वे अपद हैं।

(५) प्र०—वे रागादि भाव कैसे हैं ?

उ०—वे रागादि भाव स्वयं अस्थायी होने से आत्मा का निवासस्थान बनने योग्य नहीं हैं।

(६) प्र०—ज्ञानपद कैसा है ?

उ०—ज्ञानस्वभावरूप निजपद है, वह स्वयं स्थिर होने से आत्मा का निवासस्थान बनने योग्य है।

(७) प्र०—इसे जानकर क्या करें ?

उ०—'रागादि परभाव अपद हैं और ज्ञानभाव निजपद हैं'—ऐसा जानकर अपदभूत ऐसे परभावों को छोड़कर निजपदरूप ऐसे एक ज्ञान का ही आस्वादन करना चाहिये।

(८) प्र०—उस ज्ञान का स्वाद कैसा है ?

उ०—वह ज्ञान परमार्थरूप से स्वाद में आता है। जगत के किसी भी विषय में जिस रस की गंध भी नहीं है, ऐसा अतीन्द्रिय आनन्दरस ज्ञान में भरा है; उसके अनुभव में आनन्दरस का स्वाद आता है।

(९) प्र०—यह ज्ञानस्वरूप निजपद कैसा है ?

उ०—ज्ञानस्वरूप निजपद है, वह विपत्तियों का अपद है, उसमें कोई विपत्ति नहीं आ सकती।

(१०) प्र०—ज्ञानस्वरूप निजपद के निकट अन्य पद कैसे हैं ?

उ०—ज्ञानस्वरूप निजपद के निकट अन्य समस्त पद, अपद हैं।

(११) प्र०—यह आत्मा जब ज्ञानरस का अनुभव करता है, तब क्या होता है ?

उ०—जब यह आत्मा ज्ञायकभाव से भरपूर महास्वाद का अनुभव करता है, तब अन्य विरस (रागादि) का स्वाद लेने में असमर्थ हो जाता है, तथा ज्ञान के अद्वितीय स्वाद के अनुभव में लीन हुआ वह आत्मा, ज्ञान के विशेषों को गौण करके सामान्यमात्र ज्ञान का अभ्यास करता हुआ सकल ज्ञान को एकत्व में लाता है। अतीन्द्रिय आनन्द से भरे हुए स्वरूपज्ञान के रसमय स्वाद के सामने अन्य सब रस उसे फीके लगते हैं, अपने ज्ञेयरूप हो जाता है।

(१२) प्र०—छद्मस्थ को ऐसे ज्ञानरस का स्वाद आ सकता है ?

उ०—हाँ, शुद्धनय द्वारा छद्मस्थ को भी ऐसे ज्ञानरस का स्वाद आ सकता है ?

(१३) प्र०—मोक्ष का उपाय क्या ?

उ०—ज्ञानस्वरूप का अनुभव, वह एक ही मोक्ष का उपाय है। आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप परम पदार्थ है; जो यह ज्ञान नाम का एक पद है, वह परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्ष-उपाय है।

(१४) प्र०—ज्ञान में तो मतिज्ञानादिक अनेक भेद हैं, तथापि उसे 'एक पद' क्यों कहा है ?

उ०—क्योंकि ज्ञान में जो मतिज्ञानादि अनेक भेद हैं, वे इस एक ज्ञानपद को नहीं भेदते किन्तु उसका अभिनन्दन करते हैं। पर्याय में मतिज्ञानादि के अनेक प्रकारों के कारण कहीं एक ज्ञानस्वभाव का छेदन नहीं हो जाता, किन्तु वे ज्ञानपर्यायें अंतर्मुख होने पर ज्ञानस्वभाव के साथ अभेद होकर उसकी एकता अभिनन्दन करती हैं।

(१५) प्र०—मोक्षार्थी जीव को क्या करना चाहिये ?

उ०—मोक्षार्थी जीव को आत्मस्वभावभूत ज्ञान का ही आलम्बन करना चाहिये, उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

(१६) प्र०—अनेकान्त मार्ग का फल क्या है ?

उ०—ज्ञानस्वरूप निजपद की प्राप्ति ही अनेकान्त का फल है।

(१७) प्र०—क्या करने से निजपद की प्राप्ति होती है ?

उ०—ज्ञानस्वभाव का अवलम्बन करने से ही निजपद की प्राप्ति होती है।

(१८) प्र०—क्या करने से भ्रान्ति का नाश होता है ?

उ०—ज्ञानस्वभाव का अवलम्बन करने से ही / अवलम्बन करने से ही भ्रान्ति का नाश होता है।

(१९) प्र०—क्या करने से आत्मलाभ होता है ?

उ०—ज्ञानस्वभाव का अवलम्बन करने से ही आत्मा का लाभ होता है।

(२०) प्र०—क्या करने से अनात्मा का परिहार होता है ?

उ०—ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से ही अनात्मा का परिहार सिद्ध होता है।

(२१) प्र०—'अनात्मा का परिहार' अर्थात् क्या ?

उ०—आत्मा के स्वभाव से भिन्न ऐसे परद्रव्य तथा परभाव अनात्मा हैं; उनका अपने से भिन्नत्व सिद्ध हो, वह अनात्मा का परिहार है।

(२२) प्र०—क्या करने से कर्म का बल टूट जाता है ?

उ०—ज्ञानस्वभाव का अवलम्बन करने से ही कर्म का बल टूट जाता है।

(२३) प्र०—क्या करने से राग-द्वेष-मोह उत्पन्न नहीं होते ?

उ०—ज्ञानस्वभाव का अवलम्बन करने से ही राग-द्वेष-मोह की उत्पत्ति नहीं होती।

(२४) प्र०—क्या करने से पुनः कर्मास्रव नहीं होता ?

उ०—ज्ञानस्वभाव का अवलम्बन करने से ही कर्म का आस्रव नहीं होता।

(२५) प्र०—क्या करने से कर्मबंध नहीं होता ?

उ०—ज्ञानस्वभाव का अवलम्बन करने से ही कर्मबंध नहीं होता।

(२६) प्र०—क्या करने से कर्मों की निर्जरा होती है ?

उ०—ज्ञानस्वभाव का अवलम्बन करने से कर्म झर जाते हैं।

(२७) प्र०—क्या करने से साक्षात् मोक्ष होता है ?

उ०—ज्ञानस्वभाव का अवलम्बन करने से समस्त कर्मों का अभाव होकर मोक्ष होता है।

(२८) प्र०—ज्ञान के अवलम्बन का क्या माहात्म्य है ?

उ०—यह सब ज्ञान के अवलम्बन का ही माहात्म्य है कि जिससे निजपद की प्राप्ति होती है, भ्रान्ति का नाश होता है, आत्मा का लाभ होता है, अनात्मा का परिहार होता है, कर्म जोरावर

नहीं हो सकते, राग-द्वेष-मोह उत्पन्न नहीं होते, पुनः कर्मास्रव नहीं होता, पुनः कर्मबंध नहीं होता, बँधे हुए कर्म झर जाते हैं और समस्त कर्मों का अभाव होकर साक्षात् मोक्ष होता है।

(२९) प्र०—ज्ञानस्वभाव का ऐसा माहात्म्य जानकर क्या करें?

उ०—ज्ञानस्वभाव का ऐसा माहात्म्य जानकर, एक ज्ञान-सामान्य का अवलम्बन लेकर आत्मा का ध्यान करना... उससे सर्वसिद्धि होती है।

(३०) प्र०—जिनागम में काहे का आदेश है?

उ०—ज्ञानस्वरूप आत्मा की अनुभूति करना ही जिनागम का आदेश है, वही संतों की आज्ञा है; क्योंकि वही मोक्ष का हेतु है।

(३१) प्र०—जगत के अनेक जीव ऐसे ज्ञानस्वभाव का अवलम्बन नहीं करते?

उ०—भाई! जगत के अनेक जीव तो ज्ञानरहित अज्ञानी होने से इस ज्ञानपद को प्राप्त नहीं कर पाते, किन्तु तुझे यदि मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा हो तो तू ज्ञानस्वभाव का अवलम्बन लेकर इस निजपद को प्राप्त कर.... दूसरों की ओर न देख। हे मोक्षार्थी! आत्मा की परम प्रतीति करके तू ज्ञानस्वभाव का अवलम्बन कर।

(३२) प्र०—प्रभो! ज्ञानस्वभाव का अवलम्बन करने से क्या होगा?

उ०—हे वत्स! ज्ञानस्वभाव का अवलम्बन करने से तत्क्षण ही तुझे वचन-अगोचर ऐसा परम सुख प्राप्त होगा... तेरा आत्मा स्वयमेव आनन्दित हो उठेगा... अधिक क्या कहें? तू स्वयं ही उसी क्षण स्वयमेव उस परमसुख को देखेगा... तुझे दूसरों से पूछना नहीं पड़ेगा।

अरे जीव! विरोध छोड़कर अंतर से स्वीकार कर!

यह तुझे तेरी प्रभुता बतलाई जा रही है

साक्षात् चैतन्यमूर्ति निर्मलस्वरूप आत्मा को समझे बिना जन्म-मरण को दूर करने का अन्य कोई मार्ग नहीं है। नित्य अविकारी ध्रुव चैतन्यस्वभाव को लक्ष में न ले, उस जीव को धर्म नहीं हो सकता और न भव कम हो सकते हैं। जिसे चैतन्यस्वभाव का भान नहीं है, वह जीव मन-वाणी-देह की प्रवृत्ति में अथवा पुण्य में धर्म मानकर रुकता है, परन्तु उसका फल तो बन्धनरूप संसार है। जिसे इस बात का लक्ष नहीं है, वह बाह्य प्रवृत्ति में ही कृतकृत्यता मानता है; इसलिये जब ज्ञानी उसकी मान्यता से विपरीत बात समझाते हैं कि 'बाह्य प्रवृत्ति से या पुण्य से धर्म नहीं होता;' तब वह सुनकर सत्यतत्त्व का विरोध करता है।

जिसप्रकार पेड़ा देने के लिये बालक के पास से लकड़ी की चूसनी छुड़ाने पर वह मचल जाता है, उसीप्रकार मुक्तिरूपी पेड़े का स्वाद चखाने के लिये बाल जीवों को (अज्ञानी जीवों को) उनकी विपरीत मान्यतारूपी लकड़ी की चूसनी छुड़ाने पर वे मचल जाते हैं, परन्तु उन्हें खबर नहीं है कि ज्ञानी उनके हित की बात करते हैं।

जो पर की क्रिया से धर्म माननेवाले हैं, तथा पुण्य करते-करते उससे आत्मशुद्धि होगी, ऐसा मानकर उस विकार के स्वाद में ही रुक गये हैं, उनसे ज्ञानी कहते हैं कि भाई! तेरी इस मिथ्यामान्यता रूपी लकड़ी की चूसनी से सच्चा स्वाद नहीं आयेगा, इसलिये इसे छोड़ और अपने स्वाधीन स्वभाव का अन्तर से स्वीकार कर, तो स्वभाव के संवेदन में तुझे सुख का सच्चा स्वाद आयेगा।

मैं पर से भिन्न, साक्षात् चैतन्यज्योति, अनंत आनन्द की मूर्ति हूँ—ऐसा समझे बिना जितने शुभराग करे, वे सब मुक्ति के लिये व्यर्थ हैं। ऐसा सुनकर कोई अज्ञानी विरोध करते हैं कि अरे रे! हमारे सब धर्म का नाश हो जाता है! परन्तु प्रभु! विरोध न कर... अस्वीकार मत कर... यह तो तुझे तेरी प्रभुता समझाई जा रही है। तेरा अनंत महिमावान स्वभाव हम तुझे समझा रहे हैं, और तू उसका विरोध करके असत्य का आदर करे—यह तुझे शोभा नहीं देता।

जैसे—कोई कुलीन पुत्र कुमार्गी हो गया हो और उसका पिता उसे समझाये कि भाई! अपने कुल को यह शोभा नहीं देता... यह तेरे लिये लज्जा की बात है; उसीप्रकार आत्मा के चैतन्यगृह को

छोड़कर जो पुण्य-पाप की प्रवृत्तिरूप कुसंग से धर्म मानता है, उसे परम धर्म पिता श्री तीर्थंकरदेव शिक्षा देते हैं कि अरे जीव! तू हमारी जाति का है, यह कुमार्गीपना तुझे शोभा नहीं देता, इसमें तेरी प्रभुता लजाती है; तेरी जाति तो सिद्धपरमात्मा समान है, इस विकार से तेरी शोभा नहीं है।—ऐसा कहकर उस अज्ञानी जीव को पुण्य-पापरहित उसका ज्ञानस्वभाव समझाते हैं।

अहो! परम सत्य की ऐसी बात कानों में पड़ना भी दुर्लभ है। अनंतकाल में ऐसा अमूल्य अवसर प्राप्त हुआ है, उससमय भी यदि अपूर्व सत्य को समझकर स्वतंत्र वस्तुस्वभाव का सामर्थ्य न समझे तो चौरासी के अवतार के फेरे दूर नहीं होंगे। इसलिये जो जीव अब इस भवभ्रमण से थक गया हो, उसे शांत होकर अंतर से यह बात समझने योग्य है। [समयसार-प्रवचन से]

जन्म-मरण का नाश करनेवाली
भगवान की भक्ति

सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा की स्तुति कब हुई कहलाती है? मात्र शुभराग द्वारा वीतराग भगवान की सच्ची स्तुति नहीं होती। भगवान जैसे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र अपने में जितने अंश में प्रगट करे, उतने अंश में भगवान की सच्ची स्तुति होती है। जड़ देह और भगवान आत्मा भिन्न हैं; इसलिये शरीर की स्तुति से भगवान आत्मा की स्तुति परमार्थतः नहीं होती; भगवान के आत्मा की स्तुति से ही परमार्थस्तुति होती है; और परमार्थ में तो जैसा भगवान का आत्मा है, वैसा ही अपना आत्मा है; इसलिये अपने शुद्ध ज्ञायक आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता ही भगवान की परमार्थस्तुति है; वही धर्म है; और उसके लक्ष से बीच में भगवान की ओर का विकल्प उठे, वह व्यवहारस्तुति है; उससे पुण्यबन्धन है। जो अभी सर्वज्ञभगवान की दशा को भी नहीं जानता और सर्वज्ञभगवान जैसे अपने आत्मा के स्वभाव को नहीं पहिचानता—ऐसे जीव को सच्ची स्तुति नहीं होती; वह जीव भगवान की ओर का जो शुभराग करता है, उसे यहाँ देहस्तुति कहा जाता है। क्योंकि जिसे राग के

साथ एकत्वबुद्धि है, उसे देह के साथ एकत्वबुद्धि भी बनी ही है; इसलिये वह देह की स्तुति करता है। देह और राग से भिन्न चैतन्यमूर्ति आत्मा को तो वह पहिचानता नहीं है, तो फिर उसे वीतराग भगवान की सच्ची स्तुति कहाँ से होगी ? भगवान का आत्मा, देह और राग से रहित चैतन्यमूर्ति है; वैसा ही मेरा आत्मस्वभाव है—ऐसा भान करके जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया, उसने भगवान की सच्ची स्तुति की, वह भगवान का भक्त हुआ।

जो अल्पज्ञ प्राणी है और जिसे वीतरागता की प्रीति है, उस जीव को वीतराग भगवान के प्रति भक्ति का राग आये बिना नहीं रहेगा। वहाँ भगवान के भक्त को भान है कि जैसा वीतराग केवली भगवान का आत्मा है, वैसा ही मेरा आत्मा है; भक्ति करने से जो राग होता है, वह पुण्यबंध का कारण है; वह राग मेरा स्वभाव नहीं है।—ऐसा भान करना ही भगवान की प्रथम परमार्थस्तुति है। परन्तु भगवान पाँच सौ धनुष ऊँचे, भगवान कंचन वर्ण;—ऐसे वर्णन द्वारा भगवान आत्मा की परमार्थस्तुति नहीं होती; क्योंकि वह तो देह का वर्णन है। यदि उस समय देह से भिन्न आत्मा के स्वभाव का लक्ष हो तो उस स्तुति को भगवान की व्यवहारस्तुति कहा जाता है। उस व्यवहारस्तुति से पुण्य है और आत्मस्वभाव की प्रतीतिरूप जो भक्ति है, वह धर्म है; उस भक्ति से जन्म-मरण का नाश होता है। यदि आत्मा के परमार्थस्वभाव को न पहिचाने तो भगवान की भक्ति से जन्म-मरण दूर नहीं होते; उसने वास्तव में भगवान की भक्ति नहीं की है परन्तु राग की भक्ति की है।

साधक धर्मात्मा को भगवान की दोनों प्रकार की स्तुति होती है; परन्तु उसमें व्यवहारभक्ति का जो शुभराग है, उसे वे आदरणीय नहीं मानते, हितकर नहीं मानते हैं। जो राग को रखने योग्य माने, वह जीव वीतराग का भक्त नहीं है परन्तु मिथ्यादृष्टि है। वीतराग का भक्त राग का आदर कैसे कर सकता है ? [—प्रवचन से]

सन्तों की वाणी

आत्मा को जगाती है

(१) सम्यग्दर्शन में आत्मशांति का वेदन है। जहाँ सम्यग्दर्शन हो, वहाँ शांति होती ही है; जहाँ शांति हो, वहाँ सम्यग्दर्शन होता ही है। सम्यग्दर्शन हो और शांति का वेदन न हो—ऐसा नहीं हो सकता; तथा सम्यग्दर्शन के बिना भी किसी को शांति का वेदन नहीं हो सकता।

(२) हे जीव! जिनमें से सम्यग्दर्शन प्रगट हो, परम आनन्द प्रगट हो तथा सिद्धपद प्रगट हो—ऐसे अचिंत्य चैतन्यनिधान तेरे स्वभाव में ही भरे हुए हैं; उसमें अंतर्मुख होकर ढूँढ़.... बाह्य में ढूँढ़ने से उनकी प्राप्ति नहीं होती।

(३) जिसमें से सिद्धपद प्रगट होता है, ऐसा परमपारिणामिकस्वभावी आत्मा कहाँ रहता है?—अपने सहजज्ञानरूपी किले में उसका निवास है; उस सहजज्ञानरूपी किले में मोह का उपद्रव नहीं है, कोई विघ्न नहीं है। अंतर्दृष्टिरूपी द्वार से उस सहजज्ञान किले में प्रवेश करने पर सर्व आत्मप्रदेशों में चिदानन्द से परिपूर्ण आत्मा का दर्शन होता है... चैतन्य भगवान की भेंट होती है... और फिर वह जीव स्वयं परमात्मा हो जाता है।

(४) चैतन्यस्वभावी परमतत्त्व में प्रवेश करनेवाले को चार गति में पुनरागमन नहीं रहता, क्योंकि चैतन्यस्वभावी परमतत्त्व स्वयं चार गति से रहित है।

(५) श्री आचार्यदेव करुणापूर्वक कहते हैं कि अरे जीव! रागादि भाव तो तेरे लिये अपद हैं... अपद है... उसे तू अपना पद न मान... तेरा पद तो शुद्ध चैतन्यमय है, उसे देख! तेरा शुद्ध चैतन्यपद तुझमें ही है, तथापि अंध होकर तू उसे नहीं देखता और राग में ही अपना पद मान रहा है... उस अंध मान्यता को अब छोड़ दे और ज्ञानचक्षु खोलकर अपने शुद्ध चैतन्यपद को देख... उसे देखते ही तू आनन्दित हो उठेगा।

(६) अंध प्राणियों को दृष्टि प्रदान करने के लिये संत करुणापूर्वक कहते हैं कि अरे प्राणियों! तुम अपने शुद्ध चैतन्यपद को देखो... इधर आओ रे... इधर आओ! अनादि से राग की ओर जाते हुए तथा राग में ही सोते हुए जीवों को जगाकर आचार्यदेव विमुख करते हैं कि अरे जीवो! राग की ओर के वेग से अब विमुख होओ! और इस शुद्ध चैतन्य की ओर देखो... तुम्हारा यह चैतन्य-पद परम आनन्दरस से भरपूर है।

(७) जिसप्रकार राजा का स्थान स्वर्ण-सिंहासन पर होता है, धूल में नहीं होता; उसीप्रकार हे भाई! तू चैतन्य राजा है! तेरा स्थान तो शुद्ध चैतन्य-सिंहासन पर है, विकार में तेरा स्थान नहीं है, इसलिये तू जाग... जागृत होकर अपने निजपद को देख...!

(८) धर्म में बुद्धिमान उसे कहते हैं जो अपने स्वभाव का ही आश्रय लेकर मुक्ति की साधना करता है। जो जीव ऐसा नहीं करता और पराश्रय से लाभ मानकर संसार में भटकता है, वह भले ही चाहे जितना पढ़ा-लिखा हो, तथापि बुद्धिमान पुरुष उसे बुद्धिमान नहीं कहते, क्योंकि उसमें धर्मबुद्धि प्रगट नहीं हुई है; धर्म की रीति ही वह नहीं जानता।

(९) धर्म की अर्थात् मोक्ष की रीति यह है कि—सदैव मुक्त ऐसे सहज स्वभाव का आश्रय करना चाहिये। मुक्तस्वभाव के आश्रय से ही मुक्ति होती है... रागादि तो बंधभाव हैं... बंधभाव के आश्रय से बंधन होता है किन्तु मुक्ति नहीं होती।

(१०) इसलिये जो जीव बुद्धिमान हैं... जिसने अपनी बुद्धि को धर्म में लगा दिया है, ऐसा मुमुक्षु जीव अंतर्मुख होकर अपने सहज स्वभाव के आश्रय से रत्नत्रय धर्म की आराधना करके अकेला ही मोक्षमार्ग में सुशोभित होता है।

संतों की वाणी ऐसे मोक्षमार्ग की ओर प्रेरित करके आत्मा को जगाती है... यह संतों का महान उपकार है! [—नियमसार, गाथा १७८ के प्रवचन से]

संतों की ललकार और

उसे झेलनेवाले जीव

चैतन्य के आनन्द में झूलते हुए संत अंतर के आनन्द की झलक बतलाकर जगत को ललकारते हैं कि—अरे जीवो! रुक जाओ...! बाह्य में तुम्हारा आनन्द नहीं है, तुम्हारा आनन्द तुम्हारे अंतर में है। अहा! बाह्यवेग से दौड़ते हुए जगत को ललकार कर संतों ने रोक दिया है... और संतों की यह बात झेलनेवाला जीव कैसा है? उसका उत्साह और आत्मलगन कैसे हैं?—वह जानना हो तो—

'आत्मधर्म' अंक १७८ से १८० में प्रकाशित पंचास्तिकाय गाथा १०३ के प्रवचनों के लेख पढ़िये।

राजा को प्रसन्न करना चाहिये

जिसे राजा से अपना प्रयोजन सिद्ध करना हो, वह व्यक्ति राजा को प्रसन्न करने के लिये दूसरों के पास नहीं जाता, किन्तु सीधा राजा से ही सम्पर्क स्थापित करता है और उसे सर्व प्रकार से प्रसन्न करके समृद्धि प्राप्त कर लेता है... इसप्रकार राजा की समीपता उस व्यक्ति को सुख-समृद्धि का कारण है, किन्तु उसके लिये राजा को प्रसन्न करने की रीति आना आवश्यक है।

उसीप्रकार जिसे चैतन्य राजा से अपना हितरूप प्रयोजन सिद्ध करना है, वह मोक्षार्थी जीव जगत की अनुकूलता या प्रतिकूलता के सन्मुख न देखकर सीधा चैतन्यराजा की समीपता करके सर्वप्रकार से उसकी सेवा-आराधना करता है... अन्यत्र कहीं रुके बिना सर्वप्रकार के प्रयत्न से चैतन्य राजा को प्रसन्न करके वह जीव मोक्षमार्ग को प्राप्त करता है। इसप्रकार चैतन्यराजा की समीपता जीव को मोक्षसुख का कारण है.... किन्तु उसके लिये चैतन्यराजा को संतुष्ट करना आना चाहिये।

उस चैतन्यराजा की समीपता में हेतुभूत ऐसे संत-गुरुओं को भी वह आत्मार्थी जीव सर्वप्रकार की सेवा से राजा की भाँति संतुष्ट करता है और संत-गुरु प्रसन्न होकर उसे आत्मप्राप्ति कराते हैं। *(—चर्चा में)*

* * *

ज्यम पुरुष कोई नृपतिने जाणे, पछी श्रद्धा करे,
पछी यत्नथी धन-अर्थी से अनुचरण नृपतिनुंकरे॥१७॥
जीवराज अेम ज जाणवो बली श्रद्धवो पण अे रीते,
अेनुंज करवुं अनुचरण पछी यत्नथी मोक्षार्थी अे॥१८॥

(—समयसार)

जिसप्रकार कोई धन का इच्छुक पुरुष प्रथम तो यत्नपूर्वक राजा से पहिचान करता है, फिर उसकी श्रद्धा और अनुसरण करता है; उसी प्रकार मोक्षार्थी जीव को प्रथम आत्मा की पहिचान, फिर उसकी श्रद्धा तथा उसी का अनुसरण करना चाहिये।—इसप्रकार चैतन्यराजा को रिझाने से ही साध्यरूप शुद्ध आत्मा की सिद्धि होती है, अन्य प्रकार से सिद्धि नहीं होती।

★

अहो, कैसा निरालम्बी तत्त्व!

समयसार के संवर अधिकार में आचार्यदेव ने निरालम्बी आकाश का उदाहरण देकर आत्मा का ज्ञानस्वभाव अद्‌भुत शैली में समझाया है। अहो! समसत लोक निरालम्बी है; चारों ओर तथा नीचे-ऊपर सर्वत्र अनंतानंत अलोकाकाश के मध्य में ३४३ घनराजु प्रमाण यह लोक शाश्वत विद्यमान है और अनंतानंत जीव-पुद्‌गलों आदि से भरा है। इस लोक के नीचे कोई आधार-स्तम्भ नहीं है और न ऊपर से किसी रस्सी द्वारा लटकाया गया है, तथा किसी ने इसे धारण भी नहीं कर रखा है, तथापि यह लोक नीचे नहीं गिर जाता। लोक के निचले भाग में बिल्कुल रिक्तस्थान ही है, तथापि यह नीचे नहीं उतर जाता; ज्यों का त्यों निरालम्बीरूप से स्थित है। जिसप्रकार सारा लोक निरालम्बीरूप से स्थित है, उसीप्रकार लोक के समस्त पदार्थ निरालम्बीरूप से अपने-अपने स्वरूप में स्थित हैं, उन्हें किसी भिन्न आधार की अपेक्षा नहीं है। अहो! देखो तो यह वस्तुस्वभाव!

समवसरण में विराजमान सर्वज्ञपरमात्मा को नीचे रत्नमणि का दैवी सिंहासन होता है, किन्तु भगवान का शरीर उसे स्पर्श नहीं करता; वे तो सिंहासन से चार अंगुल ऊपर विराजमान होते हैं; निरालम्बीरूप से आकाश में ही विराजते हैं—

'ऊँचे चतुरांगुल जिन राजे, इन्द्रो नरेन्द्रो मुनिराज पूजे
जेवुं निरालम्बन आत्मतत्त्व तेवो निरालम्बन जिनदेह।'

भगवान का आत्मा तो अपने स्वभाव के आधार से परिपूर्ण वीतरागी निरालम्बी हो गया है और वहाँ शरीर का स्वभाव भी निरालम्बी हो गया है। भगवान का आत्मा किसी भी बाह्य पदार्थ के अवलम्बन बिना परिपूर्ण ज्ञान-आनन्दरूप से परिणमित हो रहा है। समस्त आत्माओं का ऐसा निरालम्बी स्वभाव है, किन्तु मूढ़ अज्ञानी जीवों को बाह्य अवलम्बन की मिथ्याबुद्धि दूर नहीं होती और वे आत्मा का अवलम्बन नहीं लेते। संत समझाते हैं कि हे जीव! स्वयं ही अपने धर्म का आधार हो, ऐसी तेरे आत्मा की शक्ति है; इसलिये तू अपने आत्मा का ही अवलम्बन ले... और अन्य के अवलम्बन की बुद्धि छोड़। जिसप्रकार आकाश को रहने के लिये किसी अन्य का आधार नहीं है, उसीप्रकार तेरे आत्मा को निजधर्म के लिये अन्य किसी का अवलम्बन नहीं है।

अहो! कैसा निरालम्बी तत्त्व!

जिसका जो आधार हो, उसके वह अभिन्न होता है, भिन्न नहीं होता। यदि वस्तु में अपना

आधार होने की शक्ति न हो और भिन्न आधार हो तो 'अनवस्था दोष' आयेगा—आधार की परम्परा कहीं रुकेगी नहीं। जैसे—

कोई कहे कि—आत्मा का आधार यह शरीर;

तो शरीर का आधार कौन ?—मकान;

मकान का आधार कौन ?—यह जम्बूद्वीप;

जम्बूद्वीप का आधार ?—मध्यलोक;

मध्यलोक का आधार ?—लोक;

और लोक का आधार ?—अलोक।

तो फिर अलोक का आधार कौन ?—

अलोक से बड़ा तो दूसरा कोई नहीं है कि जिसे अलोक का आधार कहा जा सके; इसलिये अलोक का आधार ही अलोक ही है, अन्य कोई आधार नहीं है, तो फिर अलोक की भाँति जगत के समस्त पदार्थों को भी अपना-अपना ही आधार है, पर का आधार नहीं है। आकाश का उदाहरण देकर आचार्यदेव ने भेदज्ञान की अद्‌भुत रीति समझाई है... जब अकेले आकाश को ही लक्ष में लेकर उसके आधार का विचार किया जाये, तब आकाश को किसी अन्य द्रव्य का आधार नहीं कहा जा सकता, इसलिये कोई भिन्न आधार लक्ष में नहीं आता; एक आकाश ही आकाश में है—ऐसा बराबर समझ में आता है और ऐसा समझनेवाले को पर के साथ आधेयपना भासित नहीं होता। उसीप्रकार अकेले ज्ञानस्वरूप को लक्ष में लेकर उसके आधार का विचार किया जाये तो ज्ञान से भिन्न अन्य कोई द्रव्य का आधार दिखाई नहीं देता; एक ज्ञान ही स्वयं ज्ञान में है—ऐसा समझ में आता है और ऐसा समझनेवाले को अपने ज्ञानस्वभाव से भिन्न अन्य किन्हीं पदार्थों के साथ अपना आधार-आधेयपना भासित नहीं होता। ऐसा अपूर्व भेदज्ञान होने पर स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव के आधार से ज्ञानरूप ही परिणमित होता है और राग-द्वेष-मोह की उत्पत्ति नहीं होती।—इसका नाम संवर है और यही सिद्धि का उपाय है।

संवर के लिये भेदज्ञान की भावना

प्रश्न—संवर किस प्रकार होता है ?

उत्तर—भेदविज्ञान से संवर होता है।

प्रश्न—भेदविज्ञान का अर्थ क्या ?

उत्तर—आत्मा उपयोगस्वरूप है, वह रागादि परभावों से भिन्न है—इसप्रकार उपयोग तथा रागादि को सर्वप्रकार से अत्यन्त भिन्न जानकर, राग से भिन्नरूप और उपयोग में एकतारूप ज्ञान परिणमित हो, वह भेदविज्ञान है।

प्रश्न—भेदज्ञानी क्या करते हैं ?

उत्तर—वे धर्मात्मा अपने भेदविज्ञान की शक्ति द्वारा निज महिमा में लीन होते हैं; वे रागरूप से किंचित् भी परिणमित नहीं होते, ज्ञानरूप ही रहते हैं।

प्रश्न—धर्मात्मा रागरूप से परिणमित नहीं होते—इसका तात्पर्य क्या ?—उन्हें राग तो होता है ?

उत्तर—राग होने पर भी 'राग वह आत्मा है'—ऐसी बुद्धि उन धर्मात्मा को नहीं होती, इसलिये राग के साथ आत्मा की एकतारूप से वे परिणमित नहीं होते किन्तु राग से पृथक्रूप ही परिणमन करते हैं; इसलिये कहा है कि धर्मात्मा रागरूप किंचित् परिणमित नहीं होते।

प्रश्न—धर्मात्मा ज्ञानरूप ही रहते हैं—इसका मतलब ?

उत्तर—भेदविज्ञानी धर्मात्मा सर्व प्रसंगों पर जानते हैं कि—'ज्ञानस्वभाव ही मैं हूँ।' चाहे जैसी प्रतिकूलता से घिर जाने पर भी 'मैं ज्ञानस्वभाव ही हूँ'—ऐसी श्रद्धा उनको नहीं छूटती।—इसप्रकार सर्व प्रसंगों पर अपने को चैतन्यस्वभावरूप ही अनुभव करने से धर्मात्मा ज्ञानरूप ही रहते हैं।

प्रश्न—धर्मात्मा ज्ञानरूप ही रहते हैं और रागरूप किंचित् नहीं होते—यह किसका बल है ?

उत्तर—यह भेदविज्ञान का ही बल है। भेदविज्ञान की ऐसी शक्ति है कि वह ज्ञान को ज्ञानरूप ही रखता है, उसे किंचित् विपरीतता प्राप्त नहीं कराता, तथा उसमें रागादि भावों को

किंचित् प्रवेश नहीं करने देता। इसप्रकार भेदविज्ञान का बल ज्ञान को तथा राग को एकमेक नहीं होने देता किन्तु पृथक् ही रखता है; इसलिये भेदविज्ञानी धर्मात्मा ज्ञानरूप ही रहते हैं और रागरूप किंचित् नहीं होते।

प्रश्न—संसार क्या और संवर क्या ?

उत्तर—पर में एकता, वह संसार और स्व में एकता, वह संवर। अथवा—

अज्ञान, वह संसार और भेदज्ञान, वह संवर।

प्रश्न—संसार कैसे अटकता ?—संवर क्यों होता है ?

उत्तर—शुद्ध आत्मा की प्राप्ति से संसार अटकता है और संवर होता है।

प्रश्न—शुद्ध आत्मा की प्राप्ति कैसे होती है ?

उत्तर—भेदज्ञान की तीव्र भावना से शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है, इसलिये भेदज्ञान अत्यन्त भाने योग्य है।

प्रश्न—भेदज्ञान कबतक भाना चाहिये ?

उत्तर—अच्छिन्नधारा से भेदज्ञान तबतक भाना चाहिये, जबतक ज्ञान ज्ञान में ही स्थिर न हो जाये। प्रथम पर से भिन्न शुद्ध आत्मा की भावना करते-करते ज्ञान ज्ञान में स्थिर होने पर रागादि से भिन्न होकर सम्यग्ज्ञान होता है। तत्पश्चात् भी पर से भिन्न ऐसे शुद्धात्मा की सतत् भावना करते-करते केवलज्ञान होता है, इसलिये केवलज्ञान होने तक अच्छिन्नधारा से भेदज्ञान की भावना करना चाहिये। वह भेदज्ञान की भावना रागरूप नहीं है किन्तु शुद्ध आत्मा के अनुभवरूप है—ऐसा समझना।

यहाँ कहा है कि भेदज्ञान को अच्छिन्नरूप से भाना चाहिये। और 'अतीव' अर्थात् अत्यन्तरूप से भाना चाहिये, उग्ररूप से भाना चाहिये। थोड़ी सी भावना करके थक नहीं जाना चाहिये, किन्तु शुद्धात्मा का साक्षात् अनुभव होने तक अतिदृढ़रूप से निरन्तर भेदज्ञान की भावना करना चाहिये।

प्रश्न—इस भेदज्ञान का फल क्या है ?

उत्तर—भेदज्ञान का फल केवलज्ञान और सिद्धदशा है। जो जीव सिद्ध हुए हैं, वे भेदज्ञान से ही हुए हैं।

शक्ति की प्रतीतिपूर्वक भक्ति

[पद्मनन्दि पंचविंशतिका के ऋषभजिनस्तोत्र पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से]

(वीर सं० २४८६, भाद्रपद कृष्णा १२)

भगवान की भक्ति करते हुए साधक जीव उल्लासपूर्वक कहता है कि अहा नाथ! आपको मुझ पर वात्सल्य है; मुझ पर आपको ऐसा वात्सल्य है कि आप मेरी मुक्ति को अपने ज्ञान में देख रहे हैं। हे भगवान! हम आपके पुत्र हैं। आपने अनंत गुणों के निधान खोल दिये हैं... आपको पहिचानने से हमें अनंत गुणों का निधान आत्मा दिखाई दिया.... इसलिये आपके प्रसाद से ही हमें निजधाम की प्राप्ति हुई है।

यह ऋषभदेव भगवान की स्तुति है। आत्मा में अनंत शक्ति है, उसे व्यक्त करके जो परमात्मा हुए, उनकी भक्ति का यह वर्णन है।

शास्त्र में तो कहते हैं कि—सर्वज्ञ भगवान की कृपा का फल मोक्ष है।—किसप्रकार? भगवान सर्वज्ञ परमात्मा को पहिचानने से अंतर में अपने चैतन्य निधान की भी प्रतीति हुई; इसलिये सर्वज्ञ परमात्मा के प्रति भक्ति से प्रेरित होकर धर्मात्मा कहते हैं कि हे नाथ! हम पर आपकी कृपा है; आपकी कृपा के प्रसाद से हमें चैतन्य निधान की प्राप्ति हुई; आपके प्रसाद से ही हमने धर्म और मोक्षमार्ग प्राप्त किया। हे नाथ! हम जैसे प्राणियों पर आप परम वात्सल्य के धारक हैं।—इसप्रकार धर्मात्मा को निजशक्ति की पहिचानपूर्वक भगवान की भक्ति होती। इसप्रकार 'शक्ति' और 'भक्ति' की संधि है। हमारे लिये भी सबेरे ४७ शक्तियाँ और दोपहर को ऋषभदेव भगवान की भक्ति—इसप्रकार अच्छा मेल है।

जिसे चैतन्यशक्ति का भान हो, उसे सर्वज्ञ परमात्मा के प्रति भक्ति आये बिना नहीं रहती। श्री पद्मप्रभमलधारिदेव नियमसार में कहते हैं कि—भवभव को हरनेवाले ऐसे भगवान के प्रति जिसे भक्ति नहीं है, वह भवसागर के बीच में मगर के मुँह में पड़ा है। जिसप्रकार—मगरमच्छ का ऐसा स्वभाव है कि मुँह से पकड़ने के बाद फिर छोड़ता नहीं है; उसे पकड़ना आता है किन्तु छोड़ना नहीं आता; उसीप्रकार आज्ञानभावरूप मगरमच्छ का ऐसा स्वभाव है कि वह जीव को बाँधता है किन्तु छोड़ता नहीं है। भव से छूटने का उपाय क्या?—तो कहते हैं कि भवभय को

भेदनेवाले ऐसे सर्वज्ञ भगवान परमात्मा को पहिचानकर उनकी भक्ति करना, वह भव का नाश करनेवाली है। अकेली रागरूप भक्ति की यह बात नहीं है किन्तु अंतर में ज्ञानानन्दस्वभाव की ओर के झुकावरूप वीतरागभाव सहित की यह भक्ति है और उस भक्ति का फल मुक्ति है।

इतनी भूमिका के पश्चात् अब ऋषभदेव भगवान की स्तुति प्रारम्भ होती है।

जय ऋषभ नाभिनंदन त्रिभुवननिलयैक दीप तीर्थंकर।
जय सकलजीवत्सल निर्मलगुणरत्ननिधे नाथ॥१॥

श्रीमान् नाभिराज के पुत्र, तथा ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोकरूपी जो गृह, उसके एक दीपक, और धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करनेवाले ऐसे हे ऋषभदेव भगवान! आप इस लोक में सदा जयवंत रहो। समस्त जीवों पर वात्सल्य धारण करनेवाले और निर्मलगुणरूपी रत्नों के निधान, ऐसे हे नाथ! आप इस लोक में सदा जयवंत रहो।

प्रवचनसार के मंगलाचरण में पंच परमेष्ठी भगवंतों को नमस्कार किया है। वहाँ नमस्कार करनेवाले स्वयं कैसे हैं? और जिन्हें नमस्कार किया है, उनका स्वरूप कैसा है?—उन दोनों की प्रतीतिपूर्वक वंदन किया है। 'यह स्वसंवेदनप्रत्यक्ष दर्शनज्ञानसामान्यस्वरूप मैं.... श्री वर्द्धमानदेव को नमस्कार करता हूँ।' देखो, इसमें नमस्कार करनेवाले ने स्वयं स्वसंवेदनप्रतयक्ष से अपने स्वभाव का निर्णय किया है, अर्थात् सर्वज्ञभगवान समान अपने स्वभाव के निर्णयपूर्वक ही सर्वज्ञ भगवान की सच्ची स्तुति-भक्ति होती है।

जिन मन्दिर का निर्माण करके भीतर जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा कराना, वह भगवान का स्थापना निक्षेप है; परन्तु जिनकी स्थापना की जाती है, उनका मूल स्वरूप क्या है, भावनिक्षेप क्या है, उसकी पहिचान के बिना भगवान के प्रति सच्ची भक्ति उल्लसित नहीं होती।

स्तुतिकार कहते हैं कि हे नाथ! आप सर्वज्ञता प्रगट करके तीन लोक के दीपक हुए हैं... मुझमें भी ऐसी शक्ति है; उसे प्रतीति में लेकर मैं आपकी भक्ति करता हूँ। मेरे आत्मा का स्वभाव भी तीनलोक का प्रकाशक है। प्रत्येक आत्मा ज्ञानस्वभावी दीपक है। आपने वह ज्ञानशक्ति परिपूर्ण व्यक्त की है और हमने उस शक्ति को प्रतीति में लिया है।

'हे ऋषभदेव! आप नाभिराजा के नन्दन हैं.... आपकी जय हो!'—ऐसा कहकर भगवान के कुल की पहिचान कराई।

'हे नाभिनन्दन! आप त्रिलोकप्रकाशक दीपक हैं; आपकी जय हो!'—ऐसा कहकर

भगवान के गुण की प्रतीतिपूर्वक उनकी स्तुति की।

हे प्रभो! रत्नत्रयरूप जो धर्मतीर्थ, उसकी आप प्रवृत्ति करनेवाले हैं, इसलिये आप तीर्थंकर हैं। आपका दिव्य उपदेश, जगत से भिन्न चिदानन्दमूर्ति ज्ञाता की प्रतीति कराके आत्मा को संसार से पार उतारता है; इसलिये आप तीर्थंकर हैं।

स्तुतिकार प्रमोद से कहते हैं कि अहा! सर्वज्ञनाथ! आप हम पर वत्सलता धारण करनेवाले हैं.... हम पर आपका वात्सल्य है। अपने ज्ञान में हमने आपकी सर्वज्ञता को लिया, वहाँ हम पर आपका वात्सल्य हुआ।

हे पूर्णपद को प्राप्त परमात्मा ऋषभनाथ! आप इस जगत में सदा जयवंत रहें... साध्य को सदा जयवंत कहा, उसमें उसका अनुमोदन करनेवाले ऐसे साधकभाव की भी जय होओ अर्थात् अल्पकाल में हमें पूर्ण साध्य की प्राप्ति होओ—ऐसा भी साथ ही आ गया। पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप साध्य की जय हो, बाधक ऐसे राग की हम में से क्षय हो और पूर्ण साध्य प्रगट हो! साध्य क्या, साधक भाव क्या, साध्य कहाँ से प्रगट होता है, बाधक कौन है—उसकी प्रतीतिसहित यह भक्ति है। साधक जीव, साध्य की भक्ति द्वारा बीच के बाधकभाव को तोड़ता जाता है।

हे प्रभो! आप सर्व जीवों के प्रति वात्सल्य रखनेवाले हैं। उस वात्सल्य में कोई राग की बात नहीं है। जिसप्रकार गाय को बछड़े के प्रति वात्सल्य होता है, उसीप्रकार सम्यक्त्वी धर्मात्मा को साधर्मी के प्रति अथवा देव-गुरु के प्रति परम प्रीतिरूप वात्सल्य होता है—ऐसा जो वात्सल्य अंग का वर्णन है, उसमें शुभराग है; वैसा रागरूप वात्सल्य भगवान को नहीं है। भगवान को वीतरागभावरूप वात्सल्य है। सम्यक्त्वी को देव-गुरु के प्रति तथा साधर्मी के प्रेमरूप वात्सल्य होता है और अंतर में चिदानन्दस्वभाव की परम प्रतीतिरूप निर्विकल्प वात्सल्य होता है।

यहाँ भगवान की भक्ति करते हुए साधक प्रमोदपूर्वक कहता है कि हे नाथ! आपको मुझ पर वात्सल्य है; मुझ पर आपको ऐसा वात्सल्य है कि आप मेरी मुक्ति को अपने ज्ञान में देख रहे हैं। मुझ पर वात्सल्य है, इसलिये मैं कहता हूँ कि हे नाथ! सम्पूर्ण जगत के प्रति आपका वात्सल्य है। अपने अंतर में भगवान के प्रति प्रमोद उल्लसित हुआ है, इसलिये भगवान में उसका आरोप करके कहते हैं कि हे नाथ! आपको हम पर वात्सल्य है। हे प्रभो! हम आपके पुत्र हैं....

वाह, देखो यह भक्ति!!

हे नाथ! आप ज्ञाता भाव से सर्व जीवों पर वात्सल्य रखनेवाले हैं... और हमारा स्वभाव भी

आपकी भाँति जगत का ज्ञातादृष्टा-साक्षी है। सर्वज्ञ तो जगत के साक्षी-ज्ञाता दृष्टा हैं, उन्हें किसी पर राग या द्वेष नहीं है। नमन करनेवाले के प्रति राग तथा नमन न करनेवाले के प्रति द्वेष नहीं है; समानरूप से सर्व जगत को जान रहे हैं, इसलिये भगवान को सर्व जगत के प्रति साक्षीभावरूप वत्सलता है। इसप्रकार भगवान की स्तुति करके ज्ञायकस्वभाव की ही भावना भाते हैं।

पुनः कहते हैं कि हे भगवान! आप निर्मल गुणरूपी रत्नों के निधान हो। आपको पहिचानने से हमें अनंतगुणनिधान आत्मा दृष्टिगोचर हुआ; इसलिये आपके ही प्रसाद से ही हमें निजनिधान की प्राप्ति हुई है। निर्मल गुणों के निधान हे ऋषभनाथ परमात्मा! आपकी जय हो!

हे प्रभो! आप हमारे 'नाथ' हो; हमें जो सम्यग्दर्शनादि सम्पदा प्राप्त हुई है, उसके आप रक्षक हो और जो प्राप्त नहीं हुई, ऐसी केवलज्ञानादि सम्पदा के आप दातार हो—इसप्रकार आप हमारे नाथ हो। हे नाथ, इस जगत में आप सदा जयवंत रहो; हमारे हृदय में आपका वास है... आप कभी हमारे हृदय से न निकलें।

धर्मात्मा साधक को स्वभाव के आश्रय से जितनी सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की शुद्धि प्रगट हुई है, वह तो परमार्थस्तुति है और सर्वज्ञ के प्रति बहुमान की वृत्ति उठे, वह व्यवहारस्तुति है। केवलज्ञान की निश्चयस्तुति का स्वरूप समझाते हुए समयसार की ३१वीं गाथा में भी यही बात कही है कि—राग से अधिक होकर अर्थात् उससे पृथक् होकर जो ज्ञायकस्वभावोन्मुख हुआ उसने सर्वज्ञ की निश्चय स्तुति की। इसके अतिक्ति जो राग से लाभ मानता है, वह सर्वज्ञ का भक्त नहीं है किन्तु उनका शत्रु है, क्योंकि उसने ज्ञानस्वभाव की अपेक्षा राग को अधिक बनाया है। सर्वज्ञ की स्तुति तो ज्ञानस्वभाव के बहुमान से होती है या राग के बहुमान से? राग का बहुमान करनेवाला सर्वज्ञ का अनादर करनेवाला है। यहाँ तो चिदानन्दस्वभावोन्मुख जीव भगवान की कैसी भक्ति करता है, उसका यह वर्णन है... यह भावसहित भक्ति है।

साधकदशा का स्वरूप

माघ कृष्णा ६, वीर संवत् २४८६ में जय गुरुदेव वेदी-प्रतिष्ठा के हेतु सौराष्ट्र में विहार के लिये सुवर्णपुरी से प्रस्थान कर रहे थे, उससे एक दिन पूर्व का यह प्रवचन है.... इसमें साधकदशा की पहिचान कराई गई है।

(१) आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसकी मुक्ति का कारण भी ज्ञानस्वरूप ही होता है; पुण्य-पाप तो स्वयं बंधस्वरूप हैं, वे मुक्ति का कारण कैसे हो सकते हैं ? नहीं हो सकते।

(२) इसप्रकार ज्ञान, वह मोक्ष का और पुण्य-पाप, वह बंध का कारण है।—ऐसा होने पर भी वे दोनों एक साथ कैसे हो सकते हैं ? ऐसी शिष्य की आशंका है।

(३) उस आशंका का समाधान करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे शिष्य, सुन! साधकदशा में मोक्ष का कारण ऐसा ज्ञान, और बंध का कारण, ऐसे पुण्य-पाप, इन दोनों के साथ होने में कोई विरोध नहीं है।

(४) साधक को जब तक ज्ञान की विरति पूर्ण नहीं हुई है, तब तक धर्मधारा और कर्मधारा दोनों साथ ही वर्तती हैं; वे दोनों एकसाथ प्रवर्तमान होने पर भी, एकस्वरूप से नहीं वर्ततीं किन्तु भिन्न-भिन्नरूप से वर्तती हैं।

(५) सम्यग्ज्ञान हो, वहाँ मिथ्याज्ञान नहीं होता—यह बात ठीक है; किन्तु सम्यग्ज्ञान हो, वहाँ पुण्य-पाप बिल्कुल न हों—ऐसा कोई नियम नहीं है।

(६) इसप्रकार साधकदशा में ज्ञान के साथ पुण्यपरिणाम भी प्रवर्तमान होते हैं, तथापि वहाँ भी मोक्ष का कारण तो ज्ञान ही है। पुण्यपरिणाम, मोक्ष का नहीं किन्तु बंध का ही कारण हैं।

(७) उस बंध के कारण को यदि मोक्ष का कारण माने तो वहाँ सम्यग्ज्ञान भी नहीं होता। तथा ज्ञान के साथ राग वर्तता है, इसलिये ज्ञान, मोक्ष का कारण न हो—ऐसा भी नहीं है।

(८) देखो, इसमें कितना अच्छा भेदज्ञान कराया है ! ज्ञान हुआ, इसलिये वहाँ राग बिल्कुल नहीं होता—ऐसा नहीं है।

ज्ञान के साथ राग है, इसलिये वह राग भी मोक्ष का कारण हो—ऐसा नहीं है।

ज्ञान और राग एकसाथ भले ही हों; परन्तु ज्ञान तो मोक्ष का कारण होता है; राग, बंध का ही कारण होता है।

(९) इसप्रकार ज्ञान और राग दोनों भिन्न-भिन्न स्वभाव से वर्तते हैं। जिसप्रकार जीव और शरीर दोनों एकसाथ वर्तते हुए भी दोनों भिन्न-भिन्न स्वभाव से वर्तते हैं; उसीप्रकार ज्ञान और राग दोनों एक साथ वर्तते हुए भी दोनों का स्वभाव एकदम भिन्न है।—देखो, यह भेदज्ञान!

(१०) ऐसा भेदज्ञानी जीव कदाचित् पशुपर्याय में हो, तथापि भेदज्ञान के बल से प्रतिक्षण बंध को तोड़ता जाता है... और.... मोक्ष को साधता जाता है। राग से भिन्नरूप ही अपने ज्ञान को परिणमित करता हुआ ज्ञान को तो स्वभाव में एकतारूप करता जाता है और राग से दूर होता जाता है। इसप्रकार भेदज्ञान के बल से जब ज्ञानी की राग से सम्पूर्ण विरति हो जाती है, तब वहाँ ज्ञान पूर्णता को प्राप्त होता है; फिर वहाँ रागादि बंधभाव किंचित् नहीं होता। साधकदशा में ज्ञान और राग का जो भेदज्ञान किया था, उसका यह मंगल फल है। *(—समयसार कलश ११० के प्रवचन से)*

चमत्कार

[चैतन्य में भरा हुआ गुप्त चमत्कार सृष्टि के लक्ष में नहीं है]

चैतन्यस्वरूप आत्मा में केवलज्ञान और सिद्धपद का सामर्थ्य भरा है; उस चैतन्य के गुप्त चमत्कार को जीव लक्ष में नहीं लेते... यदि चैतन्य को लक्ष में लें; तो उसका अचिंत्य चमत्कार प्रगट हो। केवलज्ञान का महान आश्चर्यजनक चमत्कार जगत को आनन्द प्राप्त करानेवाला है और वह चैतन्य में ही भरा है। ध्रुव चैतन्यस्वभाव को लक्ष में लेकर उसके अवलम्बन से जिसने केवलज्ञानरूपी पूर्ण चमत्कार प्रगट किया, उसी का यह वर्णन है। जगत के तीन काल-तीन लोकवर्ती समस्त पदार्थों की जो एक समय में थाह पा लेता है—ऐसी शक्ति जिसमें सादि-अनंत प्रगट होती रहे, उसके अपार सामर्थ्य की क्या बात! जिस ज्ञान में चैतन्य का ऐसा अपार सामर्थ्य प्रविष्ट हो गया, वह ज्ञान भी स्वभावोन्मुख होकर सम्यक् हुआ। वह सम्यग्ज्ञान तो मोक्षमार्ग का एक अंग है; उसकी भी अपार शक्ति है कि अचिंत्य केवलज्ञान को वह अपने निर्णय में ले लेता है; तथा

उस केवलज्ञान का सामर्थ्य जिसमें गुप्त रूप से भरा है, ऐसे ध्रुव चैतन्य के चमत्कार को भी वह जान लेता है।

अरिहंत के केवलज्ञान का अचिंत्य सामर्थ्य है; उसका ज्ञान करने से आत्मा का ज्ञान होता है। प्रवचनसार की ८०वीं गाथा में यह बात कही गई है। अहा! अंतर में चैतन्य चमत्कार भरा है... उसे न देखनेवाले जीव बाह्य महिमा में अटक जाते हैं... अरे चेतन! तेरे भण्डार में क्या कमी है जो तू बाहर ढूँढ़ रहा है? समस्त लोकलोक तेरे ज्ञान में झलक रहे हैं; उस ज्ञान में तन्मय रहकर तू लोकालोक को अपने भिन्नरूप जान। केवलज्ञानी परमात्मा अपने शुद्धात्मस्वरूप में तन्मय होकर उसे निश्चय से जानते हैं और लोकालोक को व्यवहार से अर्थात् उसमें तन्मय हुए बिना, अपने सामर्थ्य से जानते हैं।—जिननाथ के तत्त्वविचार में निपुण जीव, केवलज्ञान का ऐसा निर्णय करता है। केवलज्ञान तो जिनदेव के कहे हुए तत्त्वों में मुख्य वस्तु है; उसके स्वरूप में जिसे सन्देह है, वह जीव, तत्त्वविचार में निपुण नहीं है।

भगवान की सर्वज्ञता का निर्णय करके, श्री समंतभद्रस्वामी 'स्वयंभू-स्तोत्र' में स्तुति करते हुए कहते हैं कि—"हे जिनेन्द्र! तू वक्ताओं में श्रेष्ठ है; 'चराचर जगत प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यलक्षणयुक्त है'—ऐसा तेरा यह वचन तेरी सर्वज्ञता का चिह्न है। प्रभो! तेरी श्रेष्ठ वाणी से वस्तुस्वरूप का तथा तेरी सर्वज्ञता का निर्णय करके मैं तेरी स्तुति करता हूँ।"

देखो, इसप्रकार सर्वज्ञ की पहिचानपूर्वक ही सर्वज्ञ की स्तुति होती है। सर्वज्ञ की निश्चयस्तुति का वर्णन करते हुए समयसार की ३१वीं गाथा में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने भी अलौकिक बात कही है कि—'रागादि से भिन्न ऐसे ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख होकर जो अपने ज्ञायकस्वभावरूप आत्मा का अनुभव करता है, उसी को सर्वत्र भगवान की निश्चयस्तुति है।' इसमें सर्वज्ञ का निर्णय भी साथ ही है। ऐसे निर्णय में भी चैतन्य चमत्कार की प्रगटता के अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है।

(—नियमसार गाथा १६९ के प्रवचन से)

मोक्षार्थी जीव क्या करता है ?

[सोलापुर में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन, फाल्गुन शुक्ला १२]

यह समयसार शास्त्र की वचनिका हो रही है; उसके कर्ता भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव लगभग संवत् ४९ में इस भरतक्षेत्र में विचर रहे थे और निर्विकल्प शांति का वेदन करते थे। कुछ ही दिन पहले जिसकी यात्रा की है—उस पौन्नूर (मद्रास) की पहाड़ी पर वे ध्यान करते थे। वे कुन्दकुन्दाचार्यदेव महासमर्थ एवं ऋद्धिधारक संत थे। उस काल यहाँ तीर्थंकर का विरह था... विदेहक्षेत्र में सीमंधर परमात्मा साक्षात् विराजमान थे और आज भी हैं। कुन्दकुन्दाचार्यदेव यहाँ से विदेहक्षेत्र में सीमंधर भगवान के पास गये थे। मद्रास में पं० मल्लिनाथजी शास्त्री कहते थे कि इसी पोन्नूर क्षेत्र से वे विदेहक्षेत्र में गये थे और वहाँ से लौटकर इसी स्थान पर समयसारादि महान शास्त्रों की रचना की थी। इसप्रकार साक्षात् सर्वज्ञ परमात्मा से सुना हुआ और कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा स्वयं अनुभव करके लिखा हुआ यह समयसार शास्त्र है; उसकी १७-१८वीं गाथा पढ़ी जा रही है।

आचार्य भगवान कहते हैं कि हे जीव! तू प्रयत्न द्वारा अपने आत्मा की श्रद्धा कर, उसका ज्ञान कर, तथा उसी में एकाग्रता द्वारा उसका अनुचरण कर। पूर्व अनंत काल में तूने एक क्षण भी अपने शुद्ध आत्मा का सेवन नहीं किया; शुद्ध आत्मा के भान बिना पुण्य-पाप विकार का सेवन करके तू चार गति के अवतार में परिभ्रमण कर रहा है।

आत्मा त्रिकाली सत् पदार्थ है; उसका कोई कर्ता नहीं है। जो वस्तु सत् है, उसका कर्ता कौन होगा? और जिस वस्तु का सर्वथा अस्तित्व ही न हो, उसे भी कौन बनायेगा? आत्मा सत् वस्तु है, उसका कोई कर्ता नहीं है; वह सदैव है, है और है। अभी तक जीव कहाँ रहा? यदि अपने स्वभाव को जानकर सिद्धपद प्राप्त कर लिया हो, तो उसका संसार में अवतार नहीं हो सकता। किन्तु जीव अपने स्वभाव को भूलकर अभी तक संसार की चार गतियों में परिभ्रमण कर चुका है। उस चार गति के दु:ख से छूटकर यदि आत्मा की शांति का अनुभव करना चाहता हो तो आचार्यदेव कहते हैं कि—

यथा नाम कोपि पुरुषो राजानं ज्ञात्वा श्रद्दधाति।
ततस्तमनुचरति पुनरर्थार्थिकः प्रयत्नेन ॥१७॥

एवं हि जीवराजो ज्ञातव्यस्तथैव श्रद्धातव्य।
अनुचरितव्यश्च पुनः स चैव तु मोक्षकामेन॥१८॥

जिसप्रकार धन का अर्थी पुरुष, राजा को पहिचानकर, फिर श्रद्धापूर्वक उसकी सेवा करता है; उसीप्रकार जो मोक्ष का अर्थी है तथा अन्य किसी वस्तु का अर्थी नहीं है, उसे क्या करना चाहिये?—तो कहते हैं कि समस्त तत्त्वों में उत्कृष्ट ऐसे जीव राजा को अर्थात् अपने शुद्ध आत्मस्वभाव को बराबर जानकर, फिर श्रद्धापूर्वक उसी का सेवन करना चाहिये... उसके सेवन से अवश्य शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं होती—ऐसा नियम है।

मुझे आंतरिक शांति के अतिरिक्त जगत में और कुछ नहीं चाहिये;—इसप्रकार जो जीव आत्मार्थी है—मोक्षार्थी है, ऐसे जीव की यह बात है। धर्मात्मा धन का, वैभव का अर्थी नहीं होता, वह तो अपने आत्मा के मोक्ष का ही अर्थी है। आचार्यदेव उससे कहते हैं कि अरे जीव! तेरे आत्मा में ही तेरी शांति भरी है; उसमें अंतर्मुख होकर तू उसी का सेवन कर, बाह्य पदार्थों के सेवन से तुझे शांति नहीं मिलेगी। जिसप्रकार कस्तूरी मृग की नाभि में ही सुगन्ध भरी है किन्तु वह अपनी सुगंध को भूलकर बाहर दौड़ रहा है... उसीप्रकार आत्मा की प्रभुता आत्मा में ही भरी है, किन्तु अपनी प्रभुता को भूलकर बाह्य विषयों में या राग में शांति ढूँढ़ता है और उन्हें प्रभुत्व देकर उनका सेवन करता है, इसलिये चार गति में भटकता है... यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! यदि तू सचमुच मोक्षार्थी हो तो अपने आत्मा की प्रभुता जानकर उसी का सेवन कर; उसके सेवन से तुझे अवश्य अपने आत्मा की शांति का वेदन होगा।

निजपद दिखाकर आचार्यदेव जगाते हैं

हे जीवो! अब तो जागो!

(दक्षिणयात्रा के समय अमरावती में पू० गुरुदेव का प्रवचन)

अनादिकाल से अपने स्वरूप को भूलकर आजतक जीव ने अज्ञान से संसार भ्रमण किया है; राग में तन्मय होकर सोनेवाले उस जीव को जगाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि अरे जीवो! अज्ञान से अंध होकर तुम राग को ही अपना पद मानकर उसमें सो रहे हो किन्तु वह तुम्हारा पद नहीं है... नहीं है... इसलिये अब तो तुम जागो... और राग रहित अपने शुद्ध चैतन्यपद को पहिचानो! राग को निजपद मानकर अब तक का काल संसार-परिभ्रमण में गँवा दिया... किन्तु अब तो जागो... और यह जो शुद्ध चैतन्यमय निजपद है, उसे सुनो—

आसंसारात् प्रतिपदमिदं रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमंधा।
एतैतेतः पदमिदमिदं शुद्धचैतन्यधातोः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति।

(श्री समयसार कलश १३८)

निजपद को चूककर जीव को बाह्य की ओर राग की महिमा आई है; किन्तु चिदानन्द-स्वभावरूप निजपद राग से तथा संयोग से पार है, उसकी महिमा कभी नहीं आई।

आचार्यदेव कहते हैं कि—अरे आत्मा! अभी तक तूने क्या किया? जिसप्रकार कोई बड़ा राजा मदिरा के नशे में मस्त होकर कूड़े के ढेर पर सो जाये और उसमें आनन्द माने... किन्तु वह कहीं राजा का पद नहीं है, राजा का पद तो रत्नजड़ित सोने का सिंहासन होता है। उसीप्रकार तीन लोक का श्रेष्ठ पदार्थ ऐसा यह चैतन्य राजा, निज चैतन्य पद को भूलकर, रागादि को ही अपना स्वरूप मानता हुआ उस राग के नशे में मस्त होकर कूड़े के ढ़ेर जैसे विकारी भावों में सो रहा है और उसी में सुख मान रहा है... किन्तु वे रागादि कहीं चैतन्य राजा को रहने का सच्चा पद नहीं है। चैतन्यराजा का सच्चा पद—सच्चा आसन तो शुद्ध चैतन्य धातु का बना हुआ तथा आनन्दरूपी रत्नों से जड़ित है। आचार्यदेव वह पद बतलाकर जीवों को जगाते हैं कि—

अरे अज्ञानी अन्ध प्राणियों! अनादि संसार से लेकर आजतक राग को निजपद मानकर तुम मोह निद्रा में सो रहे हो... अब तो जागो! मनुष्य हुए और आँखें मिलीं, किन्तु अंतर के चैतन्य चक्षु

खोलकर जो निजपद को नहीं देखते, वे आँखें होने पर भी अंध हैं.... आचार्यदेव कहते हैं कि अरे अंध प्राणियों! अब तो ज्ञानचक्षुओं को खोलकर अपने चैतन्य निधान को निहारो!

राग और चैतन्य का भेदज्ञान कराके आचार्यदेव कहते हैं कि अरे जीवो! इधर आओ... इधर आओ... राग की ओर न बढ़ो... किन्तु चैतन्य की ओर उन्मुख होओ... राग तुम्हारा पद नहीं है, उसमें तुम्हारी शोभा नहीं है। यह रागरहित शुद्धचैतन्य ही तुम्हारा पद है और उसी में तुम्हारी शोभा है... इसलिये तुम इस शुद्ध चैतन्य को ही निजपदरूप में देखो... और इस ओर आओ... अंतर में अपने चैतन्यपद को निहारते ही तुम्हारे जन्म-मरण का अंत आ जायेगा और अपूर्व सिद्धपद की प्राप्ति होगी।

समाचार

सोनगढ़ ता० ५-३-६१ पूज्य गुरुदेव पधारे हैं; उसके पूर्व का समाचार निम्नप्रकार है—ता० १७-२-६१ राजकोट राष्ट्रीयशाला में 'अंध-महिला विकास गृह' का अवलोकन करने के लिये श्री पुरुषोत्तमदास गाँधी ने विनती की थी, वहाँ जाकर पू० गुरुदेव ने कहा कि मैं मेरे वैराग्य की वृद्धि के हेतु यहाँ आया हूँ, वहाँ श्री नारायणदास गाँधी वगैरह बहुत भाई-बहिन उपस्थित थे।

नेत्र विहीन ३० बालाओं का दृश्य देखकर गुरुदेव के हृदय में सहज वैराग्य की भावना बढ़ रही थी, आशीर्वादमय भव्य उपदेश में श्री राजचन्द्रजी का जीवन, जातिस्मरणज्ञान तथा उसी के काव्यों में से उत्तम तत्त्वज्ञान द्वारा सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा का अनुभव कैसे करना यह बात बतलाई थी।

ता० २०-२-६१ पू० गुरुदेव लाठी शहर पधारे थे, सुन्दर स्वागत होने के बाद लाठी (कलापीनगर) के दिगम्बर जैन मन्दिर को विशाल और शिखरवाला बनाने की तथा एक स्वाध्याय हॉल बनाने की लाठी दि० जैन संघ की ओर से जाहिर किया गया था, ता० २१-२-६१ अमरेली होकर सावरकुण्डला पधारे, वहाँ दि० जैन संघ की ओर से तथा सारे शहर के अग्रणिओं द्वारा उत्साहपूर्वक भारी ठाठबाठ से भव्य स्वागत हुआ, बाद में मंगल प्रवचन हुआ था।

कुण्डला शहर में असाधारण उमंग (उत्साह) से

जिनबिम्ब वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव

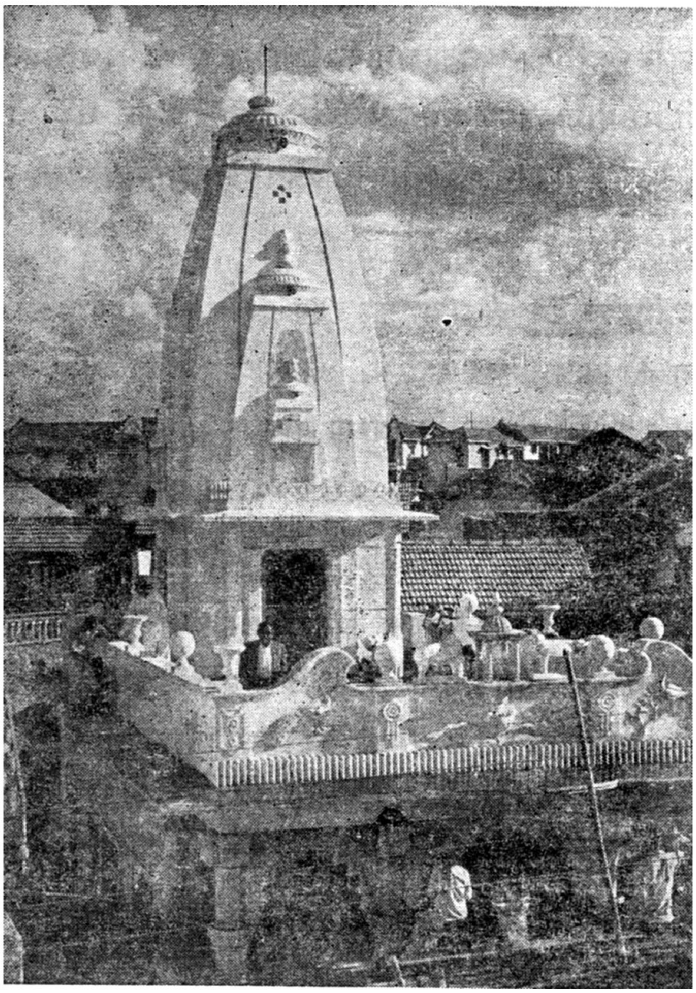

भव्य श्री दि० जैन मन्दिर सावरकुण्डला

सावरकुण्डला शहर में श्री शांतिनाथ भगवान का भव्य दिगम्बर जिन मन्दिर तैयार हुआ था, और वहाँ श्री जिनेन्द्र भगवंतों की वेदी प्रतिष्ठा का महोत्सव फाल्गुन सुदी ९ से १२ तक बहुत भारी आनन्द उल्लासपूर्वक मनाया गया, जिन मंदिर ऐसा सुन्दर बना है कि मानो जिन भक्ति के आनन्द तरंग उछालने में नित्य महोत्सव दर्शा रहा है। चार मास जितने अल्प समय में ५५ हजार की लागत

से वह तैयार है, बगल में दिवाल के ऊपर ऊँचाई पर मानस्तम्भ का सुन्दर दृश्य है।

फाल्गुन सुदी ९ से प्रतिष्ठा की मंगल विधि का प्रारम्भ हुआ था, प्रतिष्ठा मंडप में जिनेन्द्र देव को विराजमान करके, झण्डारोहण विधि बाद बीस विहरमान तीर्थंकर भगवंतों का मंडल विधान पूर्वक पूजन हुआ।

दूसरे दिन मंगल विधान पूर्ण होने पर जिनेन्द्र महाभिषेक हुआ।

फाल्गुन सुदी ११ इन्द्रप्रतिष्ठा, नांदीविधान, पूजन, जलयात्रा, इन्द्रप्रतिष्ठा का जुलूस और दोपहर से यागमंडल विधान महापूजा—उसमें पंचपरमेष्ठी, तीन चौबीसी के तीर्थंकर, विदेहक्षेत्र में वर्तमान विराजमान बीस तीर्थंकर आदि की पूजन हुई, बाद अति उत्साहपूर्वक नये जिनमन्दिर में वेदी-कलश और ध्वजाशुद्धि, स्वस्तिक आदि विधि हुई थी।

फाल्गुन सुदी १, मंगलवार के दिन सबेरे बड़ी भारी उल्लास और भक्ति से भरा हुए अति उमंग द्वारा जिनमन्दिर की पवित्र वेदी के ऊपर पू० गुरुदेव के सुहस्त से श्री जिनेन्द्र भगवंतों की प्रतिष्ठा हुई।

दोपहर के समय शांतियज्ञ हुआ, प्रवचन के बाद श्री जिनेन्द्र भगवान की भव्य रथयात्रा अच्छी तरह सजाकर, बहुत उल्लास पूर्वक सारे शहर में घुमाई। पू० गुरुदेव भी साथ में थे। भजन कीर्तन की धुन चल रही थी। इस अवसर पर जूनागढ़ से खास समवसरण के मध्य में बनी ऐसी वेदी सहित गंधकूटी लाये थे।

पू० गुरुदेव की मंगल छाया में कुण्डलानगरी में मनाये गये इस प्रतिष्ठा महोत्सव में बहुत संख्या में मेहमान आये थे। स्वधर्मी बन्धुओं के प्रति सेठ श्री जगजीवनभाई, श्री अनूपचन्दभाई, श्री जयंतीभाई, श्री नरभेरामभाई वकील आदि सभी का असाधारण प्रेम और पू० गुरुदेव प्रति भक्ति विशेष रूप से याद रहेगी। सावरकुण्डला दि० जैन संघ ने जो भक्ति उल्लास से उत्सव मनाया है, वह अति प्रशंसनीय है।

अष्टाह्निका महोत्सव के दिवस होने से नंदीश्वर मंडल बनाकर हमेशा पूजन होती थी। कुण्डला शहर में सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ११ दिवस ठहरे, उसमें मुख्य कार्यक्रम सबेरे श्री समयसारजी शास्त्र कर्ताकर्म अधिकार तथा दोपहर में पद्मनंदी पंचविंशतिका में से ऋषभ जिन स्तोत्र पर सुन्दर प्रवचनों का लाभ लेने के लिये बहुत बड़ी संख्या में जिज्ञासगुण आते थे।

विशेष बात, शहर के आसपास नजदीक के गाँवों से खास प्रवचन सुनने के लिये आने

वालों में से अग्रणी जिज्ञासु ने खड़े होकर निवेदन में कहा कि हम लोग जैनी नहीं थे किन्तु आपका प्रवचन सुनकर और थोड़ा अभ्यास करके जैन धर्म के प्रति प्रेम हुआ है।

देहात में प्रायः सारा दो गाँव को जैन धर्म में आकर्षण और प्रेम हुआ है।

ता० ४-३-६१ दामनगर पधारे वहाँ भव्य स्वागत के बाद मांगलिक प्रवचन हुआ और दोपहर में आम सभा में जाहिर प्रवचन हुआ। ता० ५-३-६१ के दिवस पू० गुरुदेव सोनगढ़ पधारे हैं। हमेशा दो बार प्रवचन चलता है। समयसार परिशिष्ट अधिकार और प्रवचनसार गाथा १७२ चलती है। समयसारजी के बाद अष्टपाहुड़ शास्त्र पर प्रवचन शुरु होंगे। ता० २१-३-६१ चैत्र सुदी १० सोनगढ़ में मानस्तम्भ जिनेन्द्र पंचकल्याणक की वार्षिक तिथि का महोत्सव मनाया गया, ता० ३०-३-६१ चैत्र सुदी १३ भगवान महावीर प्रभु का जन्मकल्याण की जयंती ठाठबाठ से पूजा, भक्ति, जुलूस सहित मनायी थी, २६ साल पूर्वक जहाँ पू० गुरुदेव ने परिवर्तन करके ३ साल ठहरे थे, वह 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक मकान में इस साल भी इस दिन वहाँ खास प्रवचन किये थे।

जैन दर्शन शिक्षणवर्ग

ग्रीष्मावकाश की छुट्टियों में विद्यार्थियों के लिये सोनगढ़ (सौराष्ट्र) में जैन दर्शन शिक्षणवर्ग चालू होगा, जो कि मई मास ता० ७-५-६१ से शुरु होकर ता० २८-५-६१ तक चलेगा।

हरेक जिज्ञासु विद्यार्थी तत्त्वज्ञान द्वारा प्रयोजनभूत आत्महित का मार्ग स्पष्टरूप में समझ सके, इसलिये जैन दर्शन का शिक्षणवर्ग शुरु होगा, जिज्ञासु विद्यार्थी धार्मिक शिक्षण का लाभ लेकर छुट्टियों का सदुपयोग करें, ऐसी खास प्रार्थना है। विद्यार्थियों के लिये रहने, जीमने की व्यवस्था संस्था की ओर से होगी। आने के लिये पत्र द्वारा जवाब मंगवा लेवें।

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला भाग तीसरा

सेठी ग्रन्थमाला से यह दूसरी आवृत्ति है। प्रश्नोत्तरमाला भाग १-२-३ प्रायः बहुत जगह पाठशाला में चलती है। प्रथम भाग तीसरी आवृत्ति है। सभी जिज्ञासुओं के लिये अति उपयोगी है बहुत जगह से मांग चालू है। तीसरा भाग पृ० संख्या १४२ मूल्य ६५ न.पै. पोस्टेज अलग। थोक लेने पर कमीशन देंगे। प्रथम भाग पृ०सं० १२४, दूसरा भाग पृ० १३७, मूल्य ६० नये पैसे।

छहढाला (सस्ते में)

यह ग्रन्थ हिन्दी में बहुत बार छप चुका है, रोचक ढंग से आत्महित का स्वरूप और गागर में सागर के समान जैनतत्त्वज्ञान इतना सुगम शैली से भरा है कि वर्तमान समाज में सब जगह जिज्ञासुओं को देख-देखकर बांटने लायक है। पृ० सं० १६१, मूल्य ८१ नये पैसे। थोक लेने पर कमीशन देंगे।

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन (दूसरी आवृत्ति)	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समाधितन्त्र	२ ।=
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	स्तोत्रत्रयी	॥)
द्वितीय भाग	२)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥–)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम–	३)
द्वितीय भाग	॥–)	आत्मधर्म फाइलें १–३–५–६–७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष	३ ।।।)
तृतीय भाग	॥–)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।